IJAER/September-October 2017/Volume-6/Issue-2 ISSN: 2278-9677
International Journal of Arts & Education Research

हिन्दी कहानियों में स्त्री विमर्श : उपलब्धियाँ एवं सीमाएँ

डॉ.प्रदीप कुमार मीना
हिन्दी विभाग
राजकीय कन्या महाविद्यालय
सवाई माधोपुर

बीसवीं शताब्दी के आठवें दशक में उभरे स्त्री–विमर्श ने इक्कीसवीं सदी में आकर एक ऐसे अभियान का रूप ले लिया है, जिसने न केवल कहानी अपितु साहित्य की हर विधा में अपनी उपस्थिति दर्ज करवाई है। परन्तु जहाँ तक हिन्दी कहानी का प्रश्न है, यदि हम कहें कि इक्कीसवीं सदी की हिन्दी कहानी स्त्री–विमर्श की अगुवा है और इस आंदोलन का प्रतिनिधित्व कर रही है तो गलत नहीं होगा। इस प्रकार वर्तमान हिन्दी कहानी ने स्त्री अधिकारिता के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान दिया है परन्तु स्त्री–आंदोलन में कहीं–कहीं भटकाव की स्थिति ने कई मुश्किलें भी पैदा की हैं, जिसमें स्त्री–विमर्श की उपलब्धियाँ प्रभावित हुई हैं।

उपलब्धियाँ

आज की नारी पुरूष के समकक्ष ही नहीं अपितु अनेक क्षेत्रों में पुरूष के वर्चस्व को भी चनौती दे रही है। उन्होंने अपनी मेहनत के बल पर स्वयं का एक अलग अस्तित्व और पहचान कायम की है। वे परंपरा के खोल को तोड़कर नये–नये आयाम स्थापित करने में जुटी हैं। यह अस्तित्व और गरिमा एक लम्बे संघर्ष और क्रांति का परिणाम है जिसे मन्नू भंडारी के इन शब्दों में समझा जा सकता है– ''हमारी पीढ़ी की स्त्री ने संघर्ष के लम्बे दौर से गुजरकर पहली बार अपना नाम हासिल किया यानी अपनी एक स्वतंत्र पहचान, अपनी अस्मिता का बोध! रिश्ते आज भी है, लेकिन रिश्ते और अस्मिता की टक्कर के परिणामस्वरूप अब उनके नये समीकरण तलाशे जा रहे है, उनका स्वरूप बदल रहा है। हमारी पीढ़ी के बहुत सारे साहित्य में इस तलाश की जबदल रहा है। हमारी पीढ़ी के बहुत सारे साहित्य में इस तलाश की जबदल रहा है। हमारी पीढ़ी के बहुत सारे साहित्य में इस तलाश की जद्दोजहद के संघर्ष के स्वर सुनाई देंगे। हमारी पीढ़ी ने अपनी एक स्वतंत्र पहचान ही नही बनाई, समाज को उसका अहसास भी कराया।''[1]

आज की नारी स्वयं को अबला नहीं सबला के रूप में स्थापित करती है– '' 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो' और 'आँचल में दूध और आँखों में पानी' के बाद पिछले पचास सालों में भारतीय स्त्री ने एक लम्बा सफर

तय किया है। मितभाषित, लज्जा, शर्म, सहनशीलता का स्थान स्त्री अपने अस्तित्व की पहचान कायम करने के संघर्ष, उसके होने की जद्दोजहद ने ले लिया है। इस बदलते हुए सामाजिक परिद ृश्य में यह स्वाभाविक है कि हिन्दी तथा इतर भाषाओं की रचनाकारों ने औरत की जिजीविषा तथा बदलते तेवर को अपनी तरह से रेखांकित किया है।''[2]

'घरौंदा नहीं, घर' की सरोजा शराबी पति और लोभी सास–ससुर का अत्याचार सहन नहीं करती और उन्हें स्पष्ट शब्दों में चेतावनी देते हुए कहती है– ''सासू माँ! कहीं इतिहास न बदल जाये। आज तक बहुएँ ही जली हैं, कहीं ऐसा न हो अब सास का नम्बर आ जाये। मैं आज ही यह घर छोड़कर जा रही हूँ। अब यहाँ रहना खतरे से खाली नहीं। मैंने पढ़ा है कि कई बार शत्रु अचानक हमला करके अपने विपक्षी को मार डालता है। ध्यान दीजिए, मेरे दहेज का सामान और नकदी मेरे घर पहुँचा दीजिए तो ठीक रहेगा, वरना कानून तो है ही।''[3]

'वाह किन्नी, वाह' की दीवली अपने पति के किसी अन्य औरत से संबंध की बात जानने पर कहती है– ''मैं आप जैसे लम्पट पर थूकती हूँ। मैंने आपकी कितनी इज्जत की है, पर आप मक्कार और लुगाईखोर है। मैं मिनखोरी नहीं हूँ। केवल पेट भरने के लिए आपके पास नहीं रहूँगी। मेरे हाथों–पावों और शरीर में बड़ी ताकत है। मेहनत–मजदूरी करके पेट भर लूँगी।''[4]

'आँच' की बाल विधवा सुमन शारीरिक और सामाजिक उत्पीड़न के बावजूद टूटती नहीं। वह पंडित जगन्नाथ द्वारा अश्लील गाली की प्रतिक्रिया में जो लताड़ती है, वह द्रष्टव्य है– ''राँड बोला तू, राँड होगी तेरी औरत! वैसे भी तू मुर्दा है। रात हमरे साथ बिस्तर करिया करता है, काहे ब्याह नहीं करता तू! गिद्ध है पंडित, गिद्ध। खाली माँस नोचना जानता है ..... करिया है जो हमें फिर छुआ अपने बच्चों का मरा मुँह देखे. ....!''[5] परन्तु सुमन पलायन की अपेक्षा संघर्ष का रास्ता अपनाती है और गाँव में ही रहने का निर्णय लेती है। ''एक ग्रामीणा स्त्री में अपने अधिकारों की यह चेतना स्त्री–सशक्तीकरण के सरकारी नारों की खोखली अभिव्यक्ति नहीं बल्कि स्त्री–प्रतिरोध की सबल भारतीय परंपरा की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है।''[6]

'अंधेरी सुरंग में टेढ़े–मेढ़े अक्षर' की नायिका जिस ऊहापोह में है, यह इसी ओर संकेत करता है– ''जहाँ लड़कियाँ हों, मेरी कोशिश होनी चाहिए कि वहीं रहूँ। बस में बैठो तो पहले ध्यान से देख लो कोई महिला यात्री है या नहीं? ट्रेन में चढ़ो मो कोशिश करो लेडिज कम्पार्टमेंट में बैठने की। जगह नहीं मिली तो कहीं और सही, पर लेडिज बगल में। बच्चे के बगल में चलेगा। क्या, वहाँ भी जगह नहीं? कोशिशि तो करो।

कोशिश करने में सब होता है। सब। यही सब कभी इधर खींचता है कभी उधर। बस, सब नहीं होता।''[7] वह पितृसत्तात्मक समाज की इस चाल को जानती है– ''स्त्री–विमर्श में यह तथ्य उभर कर सामने आया है कि स्त्री को पुरूषों द्वारा जान–बूझकर शारीरिक और मानसिक रूप से दुर्बल बनाया गया ताकि वह पुरूषों की गुलाम बनी रहे। आज की स्त्री पितृसत्ता द्वारा निर्मित उन सभी प्रतिमानों का विरोध करती है जो अवैज्ञानिक है।''[8]

सीमाएँ

स्त्री–सशक्तीकरण के संदर्भ में सुधीश पचौरी का मत महत्त्वपूर्ण है– आज की नारी ''जो अपने शरीर की स्वामिनी है। यह स्त्री कमेरी है, मेहनती है, अपना निर्णय आप करती है। लेकिन यह कुल मिलाकर एक 'अकेली स्त्री है' और सच यही है कि वह जितनी अकेली है, उसी अनुपात में वह कुछ बहुराष्ट्रीय निगमों के उपभोक्ता ब्राण्ड्रों के बाजार में खड़ी है। यहाँ वह अपनी भावनाओं को चीजों से भर सकती है, अपनी जरूरतों को पूरा कर सकती है, अपनी इच्छा की स्वामिनी हो सकती है, वह सब कुछ हो सकती है। यह असकी मुक्ति नहीं, उसकी मुक्ति का भ्रम है।''[9] अंजु दुआ जैमिनी की कहानी 'बताना जरूरी है क्या' इसी उच्छृंखलता की ओर संकेत करती है। कहानी की नायिका इतनी बोल्ड है कि उसे यह स्वीकार करने में तनिक भी आपत्ति नहीं है कि वह एक प्रोफेशनल कॉलगर्ल है। बैंककर्मी नायिका से उसका प्रोफेशन पूछता है। नायिका का जवाब होता है– 'डोंट राइट हाउस वाइफ। मैं प्रोफेशन में हूँ। आई एम प्रोफेशनल कॉलगर्ल।'[10] ''कॉलगर्ल बनी इन लड़कियों की पृष्ठभूमि जानकर हैरत होती है। फर्राटेदार अंग्रेजी बोलने वाली ये लड़कियाँ सम्पन्न परिवारों की होती है। कम–से–कम समय में अधिक से अधिक पैसा कमा लेने और आधुनिक सुख–सुविधाओं का भोग करने की अपनी ख्वाहिश पूरी करने के लिए ये कॉलगर्ल बन जाती है।''[11]

'वह लड़की' की रोजी एक ऐसी ही नारी है जो अपने बॉस के यौन आमंत्रण को स्वीकारती है और कैरिअर की सीढ़ियाँ चढ़ती जाती है। 'आजकल की लड़कियाँ सोलह भी पार नहीं करती और कँवारी माँ बन जाती हैं, फिी अबार्शन के लिए चक्कर लगाती है। कोई अपराध बोध नहीं। क्या नहीं कर रही लड़कियाँ! सिर्फ अपने का चीज की तरह इस्तेमाल करवा रही है। कल की आई छोकरी है, बॉस को मुट्ठी में करके प्रमोशन ले ली!'[12] स्त्री–सशक्तीकरण के यथार्थ तथा नारी की आर्थिक स्थिति पर प्रकाश डालते हुए डॉ. रश्मिरेखा लिखती है– ''मुक्त बाजार व्यवस्था में बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ उसकी स्त्री छवि और सुन्दर देह को अपने हक

में भुनाना चाहती हैं, वह भी अपनी सुन्दरता की कसौटी पर बोल्ड एण्ड ब्यूटीफुल। इस तरह वस्तु की तरह स्त्री पहले भी बिकती रही है और आज भी बिक रही है। आँकड़ों पर यदि हम गौर करें तो भारत में 5–6 प्रतिशत से भी अधिक स्त्रियाँ किसी भी क्षेत्र में आगे नहीं है। जो मीडिया पर सामने दिख रही हैं, वे या तो मनोरंजन के क्षेत्र में हैं या मॉडलिंग के। संयुक्त राष्ट्र संघ के अनुसार विश्व की 98 प्रतिशत पूँजी और 99 प्रतिशत बड़े–बड़े संस्थानों और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के प्रबंधन और निर्णय लेने वाले पदों पर पुरूषों का अधिकार है, जबकि पूरी दुनिया के कुल श्रम का 2/3 भाग स्त्रियाँ करती हैं और उन्हें कुल मजदूरी का 1/3 भाग ही मिलता है।''[13]

संदर्भ

1. मन्नू भण्डारी–अपनी अस्मिता का बोध, औरत का सफर, पृ. 34।
2. औरत का सफर–सं. सुधा अरोड़ा, भूमिका, पृ. 14।
3. यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र–कालकी गोरकी, वाह किन्नी, वाह, पृ. 99–100।
4. यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र–वाह किन्नी, वाह, पृ. 44।
5. मुक्ता–आँच, सीढ़ियों का बाजार, पृ. 51।
6. उमा गुप्त–स्त्री के संसार की प्रतिकृति, इंडिया टुडे, 27 जून, 2007, पृ. 57।
7. अल्पना मिश्र–अंधेरी सुरंग में टेढ़े–मेढ़े अक्षर, भीतर का वक्त, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, दूसरा सं. 2006, पृ. 75।
8. डॉ. दया दीक्षित–कहानी का उत्तरपथ, पंचशील शोध समीक्षा, जनवरी–मार्च 2009, पृ. 112–113।
9. सुधीश पचौरी–इक्कीसवीं सदी का पूर्व रंग, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, प्रथम सं.2000, पृ. 18।
10. अंजु दुआ जैमिनी–बताना जरूरी है क्या, क्या गुनाह किया, पृ. 27।
11. अमित कुमार सिंह–भूमण्डलीकरण और भारत : परिदृश्य और विकल्प, पृ. 183।
12. अुजु दुआ जैमिनी–वह लड़की, क्या गुनाह किया, पृ. 81।
13. डॉ. रश्मिरेखा–पितृसत्तात्मक भारतीय समाज और स्त्री–मुक्ति, परिषद् पत्रिका, अप्रैल 03 मार्च 04, पृ. 117।